[ISSN : 2348-2605]

अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी एवं सामाजिक विज्ञान शोध पत्रिका

(त्रैमासिक हिन्दी एवं सामाजिक विज्ञान पत्रिका)

www.gejournal.net

E-mail: hindires@gmail.com

अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी एवं सामाजिक विज्ञान
शोध पत्रिका
(त्रैमासिक हिन्दी एवं सामाजिक विज्ञान पत्रिका)

न्याय - सूत्र के अनुसार संशय पदार्थ का स्वरूप-विवेचन

Dr. Swati Gera
Ph. 9416955480

भूमिका: न्याय (तर्कशास्त्र अथवा हेतु विद्या) भारतीय दर्शन के विषयों में से एक प्रमुख विषय है, भारत में जिसका प्रादुर्भाव औपनिषदिक काल में ही हो चुका था। बृहदारण्यकोपनिषद की एक श्रुति है - "आत्मा वा अरे दृष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितत्यश्च।"[1]

महर्षि याज्ञवल्क्य ने इस उपदेश के माध्यम से मोक्ष-प्राप्ति के लिए श्रवण और निदिध्यासन के साथ-साथ मनन (चिन्तन और तर्क) का भी महत्त्व प्रतिपादित किया है। मानव की यह मनन और चिन्तन की प्रवत्ति ही परवर्ती काल में न्याय, तर्क अथवा हेतुविद्या के रूप में विकसित हुई। इस प्रकार भारतीय दर्शन परम्परा में न्याय अथवा तर्कशास्त्र जिसे बाद में हेतुविद्या भी कहा गया, का विशेष महत्त्व है।

न्याय शब्द की व्युत्पत्ति 'नि' उपसर्गपूर्वक 'इण्' धातु से घञ् प्रत्यय लगाकर होती है । न्याय शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है। वात्स्यायन के अनुसार न्याय शब्द का अर्थ है - प्रमाणों द्वारा अर्थ की परीक्षा करना।[2] द्सरे स्थ्ल पर वात्स्यायन ने बताया है कि 'प्रतिज्ञा' आदि पाँच अनुमानावयवों को भी न्याय शब्द से अभिहित किया है।[3] भाष्यकार वात्स्यायन ने न्याय को आन्वीक्षिकी नाम से भी बताया है- प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं सा अन्वीक्षा तया प्रवर्तते इति आन्वीक्षिकी।[4] भाष्यकार ने यह स्पष्ट किया है कि न्यायशास्त्र उपनिषदों की भाँति मात्र अध्यात्म विद्या नही अपितु संशय से लेकर निग्रह स्थान पर्यन्त चौदह पदार्थ हैं उनका विवेचन करना 'न्याय दर्शन' का हेतु है।

संशय का अर्थ- संशय शब्द सम् उपसर्गपूर्वक शीङ् धातु से घञ् प्रत्यय लगाकर बना है। संशय न्याय का प्रर्वतक है इसे न्याय पूर्वाङ्ग भी कहा गया है। संशय की भूमि प्रमाण प्रमेय जन्य व्यवहार

है। संशय यद्यपि अनवधारणात्मक ज्ञान होने से तथा प्रमाण की अपेक्षा रखने से एक प्रमेय है। तथापि न्याय प्रवर्तक होने के कारण सूत्रकार ने इसको स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्थान दिया है। सूत्रकार गौतम द्वारा कथित षोडश पदार्थों में संशय का तीसरा स्थान है। सन्दिग्ध विषय पर विचार करना ही न्याय होता है। सूत्रकार ने स्पष्ट कहा है कि विमर्श करके पक्ष तथा प्रतिपक्ष द्वारा अर्थ का अवधारण निर्णय कहलाता है।[5]

न्यायसूत्रकार गौतम के अनुसार संशय का लक्षण- 'समानानेकधर्मोपपत्तेः विप्रतिपत्तेः उपलब्धयनुपलब्ध्यत्यवस्थातश्च विशेषापेक्षः विमर्शः संशयः'।[6] अर्थात समानधर्मो की उपपत्ति से तथा अनेक धर्मो की स्थिति से, विरूद्ध धर्मों की स्थिति से, उपलब्धि की अव्यवस्था(अनियम) से, अनुपलब्धि की अव्यवस्था से और विशेष ज्ञान की अपेक्षा रहते हुए जो विमर्श अर्थात् द्विकोटिक ज्ञान होता है, वह संशय कहा जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में संशय लक्ष्य पद है व विमर्श लक्षण पद है। विमर्श शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक मृश् धातु से बना है। मृश् धातु तुदादिगण परस्मैपदी आमर्शन अर्थ में पठित है। आमर्शन का अर्थ स्पर्श या छूना ह; तात्पर्य है - कि जानकारी के साथ किसी वस्तु तक पहुँचना अर्थात वस्तु को जानना। इस प्रकार 'मृश' धातु का अर्थ यहाँ ज्ञान समझना चाहिए। फलतः संशय का स्वरूप हुआ - एक धर्मी में दो विरूद्ध धर्मों का ज्ञान होना। परन्तु संशय तभी उभरता है जब विशेष ज्ञान की अपेक्षा हो। इसलिए विशेषापेक्षः विशेषण दिया गया। यदि धर्मोविषयक विशेष को जानने की उत्कण्ठा नही होती, तो संशय के उत्पन्न होने का अवसर नही आता।

संशयोत्पत्ति की पाँच अवस्थाएँ- संशय उत्पन्न होने की पाँच अवस्थाएँ सूत्र में बताई गई है- समानधर्मोपपत्ति, अनेकधर्मोपपत्ति, विप्रतितत्ति, उपलब्धि अव्यवस्था, अनुपलब्धि अव्यवस्था।[7] इन्ही

पाँचो अवस्थाओं को आधार बनाकर उत्पन्न होने वाला संशय भी पाँच प्रकार का है जो इस प्रकार है–

1. समानधर्मोपपत्ति संशय
2. अनेकधर्मोपपत्ति संशय
3. विप्रतिपत्ति से उत्पन्न संशय
4. उपलब्धि अव्यवस्था से उत्पन्न संशय
5. अनुपलब्धि अव्यवस्था से उत्पन्न संशय

इनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है–

1. समानधर्मोपपत्ति संशय–

पुरोवर्ती धर्मों में ऐसे धर्मी का दिखाई देना जो समान रूप से दो धर्मियों में विद्यमान रहते हैं। उन समान धर्मो के दिखने पर या दिखाई देने पर व्यक्ति संशय में पड़ जाता है कि ये धर्म दोनों धर्मियों में से किस–किस या कौन–कौन में दिखाई दे रहे हैं।

सांयकाल मन्द अन्धकार हो जाने पर निर्जन प्रदेश से होकर कोई व्यक्ति चला जा रहा है, सामने उसे कुछ दिखाई दिया। व्यक्ति के पास कुछ धन आदि वस्तु है। सामने दिखाई दे रहे धर्मों में पुरूष और स्थाणु में दोनों के समान धर्म (आरोह–परिणाह) उत्तार–चढ़ाव, लम्बाई–चौड़ाई आदि दिखाई दे रहे हैं। पुरूष के विशेष धर्म हाथ, पैर, सिर आदि तथा स्थाणु के टेढापन, श्वोश्वर आदि दिखाई नहीं दे रहे, पर पथिक उनको जानने की इच्छा कर रहा है, जिससे स्थाणु– पुरूष दोनों धर्मियों में से एक का निश्चय हो सके। यदि पुरूष का निश्चय हो जाए; और उसे हानि का भय हो तो आगे ना जाकर वापिस लौट आए। यदि स्थाणु का निश्चय हो जाए, तो निर्भय होकर आगे चला जाए।

व्यक्ति सोचता है- मै स्थाणु पुरूष के समान धर्मों को देख रहा हूँ, विशेष धर्मों को नहीं देख रहा हूँ, ऐसो प्रतीति होना अपेक्षा है। यही अपेक्षा भय, आशंका का सहयोग पाकर संशय को जन्म देती है।

2. अनेकधर्मोपपत्ति संशयः

अनेक पद धर्मों का बोधक है। प्रत्येक धर्मी का कोई समानजातीय धर्म होता है कोई असमान जातीय यह किसी धर्म विशेष के आधार पर होता है। जैसे-द्रव्यत्व धर्म के आधार पर पृथ्वी के समानजातीय धर्मी हैं- जल, तेज आदि और असमानजातीय धर्मी है- गुण, कर्म आदि; क्योंकि इनमें द्रव्यत्व धर्म नही रहता।[8] पृथ्वी में एक धर्म है - गन्धवत्व वह पृथ्वी का विशेष धर्म है। समान - असमानजातीय सभी धर्मियों से पृथ्वी को यह भिन्न रखता है। पृथ्वी में इस धर्म की विद्यमानता पृथ्वी के विषय में संदेह उत्पन्न करती है कि पृथ्वी को द्रव्य माना जाए अथवा गुण या कर्म माना जाए। क्योंकि 'गन्धवत्व' का अभाव जलादि द्रव्यों, गुण और कर्म तीनों में समान रूप स विद्यमान है। इस प्रकार अनेक धर्म अर्थात् किसी धर्म का असाधारण धर्म उसकी किसी स्थिति के विषय में संशय का जनक होता है। यह उसी दशा में होता है जब उस धर्मी के विषय में विशेष जानकारी की अपेक्षा हो।

विप्रतिपति से उत्पन्न संशय-

विप्रतिपति शब्द में 'वि' का अर्थ है- विरूद्ध अथवा विरोधी; प्रतिपत्ति का अर्थ है- 'ज्ञान'। एक अधिकरण में परस्पर विरोधी ज्ञानों का होना विप्रतिपति है, जो संशय को उत्पन्न करता है।[9] जैसे, कोई आचार्य कहता ह-आत्मा है, अन्य आचार्य का कहना है कि आत्मा नही है। आत्मा अधिकरण जिसके विषय में दो विरूद्ध ज्ञान हो रहे हैं। इन दोनों आचार्यो के मतों को सुनकर

श्रोता को संशय उत्पन्न हो जाता है कि आत्मा है या नही;[10] क्योंकि होना और न होना दोनों विरोधी धर्मों का एक अधिकरण में रहना असंभव है।

इसमें से किसी एक धर्म का निश्चयात्मक हेतु जब तक उपलब्ध नही होता, जब तक विशेष की अपेक्षा होने पर संशय की स्थिति बनी रहती है।

3. उपलब्धि की अव्यवस्था से उत्पन्न संशय-

विद्यमान और अविद्यमान दोनों प्रकार की वस्तु उपलब्ध हो जाना, उपलब्धि विषय अवस्था का स्वरूप है। उपलब्धि की अवस्था से भी संशय उत्पन्न होता है कभी-कभी यह देखा जाता है कि न होती हुई अर्थात् अविद्यमान वस्तु की उपलब्धि प्रतीत होती है जैसे मरूमरीचिका मे जल की प्रतीति, तथा नदी, तड़ाग आदि में विद्यमान जल की उपलब्धि होती है। अनन्तर किसी अवसर पर कोई वस्तु की प्रतीति होने पर यह संशय उत्पन्न हो जाता है कि यह प्रतीति मरूमरीचिका में जल के समान अविद्यमान को प्रतीति है अथवा नदी में जल के समान विद्यमान की। विशेष की अपेक्षा होने पर जब तक विशेष के अवधारण का कोई हेतु उपलब्ध नहीं होता तब तक संशय बना रहता है। विद्यमान-अविद्यमान दोनों प्रकार की वस्तु का उपलब्ध हो जाना उपलब्धिविषयक अव्यवस्था का स्वरूप है।[11]

4. अनुपलब्धि अव्यवस्था संशय-

उपलब्धि अव्यवस्था के विपरीत कभी ऐसा होता है कि विद्यमान वस्तु की उपलब्धि नही होती, अर्थात् अनुपलब्धि रहती है। जैसे विद्यमान वृक्षादि की भी जड़ दिखाई नही देती । दीवार में गढ़ी कील का अथवा भूमि में गड़े खूंटे का बहुत -सा भाग दिखाई नही देता। यह विद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि है। अविद्यमान वस्तु जो उत्पन्न नही हुई अथवा उत्पन्न होकर नष्ट हो चुकी है, उसकी अनुपलब्धि यथार्थ है। अनन्तर ऐसा हो सकता है कि ढूंढने पर कभी वस्तु नहीं

मिल रही होती। उस समय यह संशय हो जाता है कि वस्तु अविद्यमान है इसलिए नहीं दिखाई दे रही अथवा विद्यमान होते हुए भी दिखाई नहीं दे रही । वस्तु की विद्यमानता – अविद्यमानता दोनों अवस्थाओं में वस्तु की अनुपलब्धि – अव्यवस्था का स्वरूप है।[12]

इस प्रकार भाष्यकार के अनुसार संशय के पाँच भेद है, परन्तु वार्तिककार उद्द्योत्तकर और तात्पर्यटीकाकार वाचस्पतिमिश्र को यह मत स्वीकार नहीं। उनके अनुसार संशय तीन प्रकार का है–

1. समानधर्मोपपत्ति संशय 2. अनेकधर्मोपपति संशय 3. विप्रतिपत्ति से उत्पन्न संशय।

वार्तिककार तथा तात्पर्यटीकाकार के मत में उपलब्धि की अव्यवस्था और अनुपलब्धि की अव्यस्था उपर्युक्त दोनों को इन तीन प्रकार के संशय को ही विशेष माना है। तात्पर्यटीकाकार ने तात्पर्य टीका में स्पष्ट वर्णन किया है कि समान तथा अनेक धर्म की उपलब्धि के रहते तथा विशेष धर्म का स्मरण करते रहते साधक तथा बाधक प्रमाण के न रहने पर संशय नही होता है। अत: उपलब्धि की अव्यवस्था, अनुपलब्धि की अव्यवस्था को अलग मानने की आवश्यकता नहीं।[13]

अप्रमा ज्ञान में संशय का वैशिष्ट्य–

संशय उस ज्ञान को कहते हैं जिससे किसी वस्तु को जानने की इच्छा होती है। जिस विषय मे संशय होता है मनुष्य उसे ही समझना चाहता है। अत: जिज्ञासा के प्रति कारण होने वाले ज्ञान को ही संशय कहते हैं। यह अमुक वस्तु है या अमुक वस्तु नही है? इत्यादि ज्ञान संशय होता है क्योंकि इसके अनन्तर प्राणी उपाय करके यह सोचता है या निश्चय करता है कि यह अमुक वस्तु नही है ,यह तो अमुक वस्तु है। संशय ज्ञान अप्रमा ज्ञान या अयथार्थ ज्ञान के अन्तर्गत आता है। अप्रमाज्ञान के तीन भेदों संशय, विपयर्य व तर्क में सबसे पहला संशय ज्ञान है।

संशय एवं विपयर्य ज्ञान में अन्तर-

विपयर्यस्तु अतस्मिन् तदग्रहः।[14] अर्थात जो वस्तु जैसो न हो उसे उस रूप में जान लेना विपयर्य ज्ञान कहलाता है अन्नभट्ट ने इसे मिथ्या ज्ञान कहा है।[15] विपयर्य के विषय में दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न मत हैं।

न्याय की भाषा मे इसे भ्रांति भी कहा गया है। भ्रांति यद्यपि पदार्थ का मिथ्याज्ञान होता है किन्तु इससे पदार्थ की यथार्थता में कोई अन्तर नही आता।[16] विपयर्य ज्ञान प्रत्यक्ष एवं अनुमान के विषय में होता है इसे इस दृष्टान्त के द्वारा समझा जा सकता है कि जैसे कोई दूर से चमकती हुई सीपी को देखता है, उसे चाँदी समझ लेता है। इसी प्रकार रज्जु के रूप न जानकर सर्प के रूप मे निश्चय कर लेना भी भ्रान्ति या विपयर्य है। यद्यपि विपयर्य ज्ञान भी संशय ज्ञान की तरह ही अयथार्थ ज्ञान है तथापि दोनों में अन्तर ह। विपयर्य ज्ञान एक धर्मात्मक व निश्चयात्मक ज्ञान है, भले ही निश्चय किया गया पदार्थ वहाँ विद्यमान न हो। जबकि संशय ज्ञान अनेक धर्मात्मक व अनिश्चयात्मक ज्ञान है। संशय ज्ञान मे मनुष्य इस निश्चय पर नही पहुँच पाता कि सामने स्थित वस्तु क्या है? स्थाण् है या पुरूष है? विपयर्य ज्ञान में मनुष्य निश्चय पर तो पहुँच जाता है पर उसका निश्चय मिथ्या होता है।

संशय एवं स्मृति में अन्तर-

जो ज्ञान केवल संस्कारों से उत्पन्न होता है, उसे स्मृति कहते हैं।[17] यथार्थ एवं अयथार्थ के भेद से स्मृति दो प्रकार की होती है। यदि अनुभव अयथार्थ होगा तो स्मृति भी अयथार्थ होगी और यदि अनुभव यथार्थ होगा तो स्मृति भी यथार्थ होगी । स्मृति अनुभव से भिन्न है परन्तु संशय ज्ञान अनवधारणात्मक होने पर भी अनुभव है।

संशय एवं तर्क में अन्तर-

'अनिष्टो तर्कप्रसङ्ग'[18] अर्थात अनिष्ट की प्रप्ति होना तर्क है। यथा-धूम और अग्नि व्याप्य-व्यापक के रूप में ज्ञात है अत: उनमें से एक की प्राप्ति हो रही है तो न चाहने पर भी वहाँ पर दूसरे की सत्ता माननी पड़ेगी। यही अनिष्ट प्रसङ्ग है यह तर्क यथार्थ अनुभव नही है क्योंकि वस्तु स्वरूप के अनुरूप निश्चयात्मक ज्ञान नही है। वस्तुत: यह निश्चय से पूर्व की अनिश्चित अवस्था का नाम है। यह केवल एक पक्ष का समर्थन करता है तद्विषयक निश्चय नही करता, अत: यह अयथार्थ की कोटि में आता है तर्क में चूंकि निश्चयात्मक ज्ञान नही होता अत: इसे तत्त्वज्ञान या प्रमा नहीं कहते। निश्चयात्मक ज्ञान का अभाव यद्यपि संशय में भी रहता है किन्तु फिर भी दोनों में अन्तर है। संशय में निश्चय नही रहता । साथ ही निश्चय के लिए प्रयत्न भी नही रहता जबकि तर्क में निश्चय न रहने पर भी निश्चयोन्मुख प्रयत्न रहता है।[19]

तर्क अनुमान प्रमाण का ग्राहक होता है यद्यपि तर्क को प्रमाणों के अन्तर्गत नही माना जाता तथापि उसे प्रमाणों का अनुग्राहक तो मानना ही पड़ता है। यह तर्क व्याप्ति का निश्चय करने में सहायक होता है। पर्वत में धूम को देखने के बाद उक्त तर्क की सहायता से अनुमान प्रमाण के द्वारा अग्नि का निश्चय किया जाता है। इसलिए तर्क को प्रमाण का अनुग्राहक माना जाता है।

निष्कर्ष-

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि सूत्रकार गौतम द्वारा कथित षोडश पदार्थो में 'संशय' पदार्थ एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसे न्यायदर्शन का पूर्वाङ्ग कहा गया है। यद्यपि संशय ज्ञान वस्तु के अनुरूप और निश्चयात्मक ज्ञान नही है इसलिए यह अयथार्थ की कोटि में आता है। फिर भी यह न्याय का प्रर्वतक कहा गया है। भाष्यकार ने स्वयं कहा है कि 'न प्रसिद्धे न निर्णीतेऽर्थे न्याय:' अर्थात न्याय या तर्क की प्रवृत्ति न तो अनुपलब्ध विषय में होती है

तथा न ही निर्णीत विषय में होती है? इसके उत्तर में भाष्यकार कहते है कि न्याय की प्रवृत्ति संदिग्ध विषय में होती है। संभवतः इसी कारण संशय को न्याय का प्रवर्त्तक कहा गया है।

.....

सन्दर्भ

1. बृहदारण्यकोपनिषद् - 2.2.5
2. प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। न्याय भाष्य, 1.1.1
3. सोऽयं परमे न्यायः। न्याय भाष्य 1.1.1
4. न्याय सूत्र, वात्स्यायन भाष्य, पृ० - 7
5. न्याय सूत्र वात्स्यायन भाष्य, पृ० - 6
6. न्याय सूत्र-23, पृ०-54
7. न्याय सूत्र, 23 पृ० - 54-56
8. न्याय सूत्र, वात्स्यायन भाष्य, पृ० - 55
9. न्याय सूत्र, वात्स्यायन भाष्य, पृ० - 55
10. अस्त्यात्मा इत्येकं दर्शनम् नास्त्यात्मा इत्यपरम्, न्याय सूत्र, पृ० - 55
11. न्याय सूत्र, वात्स्यायन भाष्य, पृ० - 56
12. न्याय सूत्र, वात्स्यायन भाष्य, पृ० - 56
13. न्याय सूत्र, वात्स्यायन भाष्य, हिन्दी व्याख्या सच्चिदानन्द मिश्र पृ० - 54
14. केशवमिश्र, तर्कभाषा, हिन्दी व्याख्या श्री निवास शास्त्री। पृ० - 54
15. अन्नंभट्ट, तर्कसंग्रह, पृ० - 157
16. केशवमिश्र, तर्कभाषा पृ० 16
17. यथोपरि, पृ० 16-20
18. केशवमिश्र, तर्कभाषा, पृ० - 14
19. भारतीय न्यायशास्त्रम् पृ० - 128